

## भारतीय संस्कृति में मानवाधिकार

डॉ० अजय कुमार सिंह

सहायक आचार्य, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, भारत।

### प्रस्तावना

मानवाधिकार की अवधारणा मानवता के दर्शन पर आधारित है। इसका स्वरूप व्यापक तथा सार्वभौम है। इसकी परिधि में नैतिक, वैधानिक, मौलिक, सकारात्मक व नकारात्मक सभी अधिकार आते हैं। व्यक्ति के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकार हेतु मूलभूत आवश्यकताएँ ही मानवाधिकार हैं जिसमें व्यक्ति केन्द्र में है। परम्परागत रूप से प्राकृतिक अधिकार (जीवन, सम्पत्ति, स्वतन्त्रता) मानवाधिकार की श्रेणी में आते थे, किन्तु सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ-साथ मानवाधिकार का आयाम विस्तृत होता गया। इसके अन्तर्गत सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक अधिकार के साथ-साथ व्यक्ति के आत्मिक, नैतिक व आध्यात्मिक विकास भी शामिल हैं। देश, काल, परिस्थिति, मान्यताओं एवं सामाजिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन के साथ-साथ राज्य-दमन तथा शक्ति के प्रयोग पर आधारित व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह हुआ। राज्य न्याय, मानव गरिमा तथा स्वतन्त्रता को निश्चित करने वाली परम्पराओं और प्रथाओं का बार-बार उल्लंघन करता गया। फलतः जैसे-जैसे समाज में जागरूकता बढ़ी अधिकारों के संरक्षण की माँग बढ़ने लगी। शिक्षा के प्रचार-प्रसार व जन जागृति ने भी इसके स्वरूप व मान्यताओं को प्रभावित किया। अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर मानवाधिकार का उद्भव राज्य की दमनात्मक प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया में होता है। यूरोप में इसका उद्भव पुनर्जागरणकाल से प्रारम्भ होता है। सिद्धान्तः मानवाधिकार की अवधारणा का विकास परम्परागत उदारवाद से सम्बद्ध है। व्यक्तिवाद, व्यक्तिगत सम्पत्ति, व्यक्ति की स्वतन्त्रता, विकास, उन्नति तथा समिति शासन का सिद्धान्त उदारवादी क्रान्ति की देन है। उदारवादी क्रान्ति ने सम्पूर्ण विश्व में कल्याणकारी राज्य की संकल्पना को जन्म दिया। उदारवादी परम्परा ने मानवाधिकार के संरक्षण व संवर्द्धन हेतु राज्यों को आवश्यक व महत्वपूर्ण कदम उठाने के लिए प्रेरित किया। यह व्यक्ति के अधिकारों की धारणा प्राकृतिक अधिकार से प्रारम्भ होकर धीरे-धीरे सकारात्मक नैतिक अधिकारों का स्वरूप ग्रहण करती हुई आज अन्तर्राष्ट्रीय बहस का विषय बन गई है।

मानव अस्तित्व, मानव गरिमा, आत्म-सम्मान, मानवीय संवेदना व मानवीय मूल्यों को वैधिक मान्यता युग-युगान्तर के संघर्ष के पश्चात् 1940-50 के दशक में मिलता है। आधुनिक सन्दर्भ में 'मानवाधिकार' शब्द का प्रचलन व्यापक होता जा रहा है। इसके संरक्षण व संवर्द्धन हेतु विकसित राष्ट्रों के मध्य होड़ मची हुई है। मानवाधिकार के संरक्षण और संवर्द्धन का अन्तर्राष्ट्रीयकरण 1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के बाद हुआ। संयुक्त राष्ट्र संघ ने आगे आने वाली पीढ़ियों को युद्ध की विभीषिका से रक्षा करने की अपनी प्रतिबद्धता जाहिर की। मानव गरिमा और महत्व की अभिपुष्टि की। पुरुषों और स्त्रियों के समान अधिकार, सामाजिक प्रगति और बेहतर जीवन स्तर सुलभ कराने की बात की। इसके पूर्व मानवाधिकार मैगानाकार्टा, बिल ऑफ राइट्स, हैबियस कार्पस एक्ट, अमरीकी स्वतन्त्रता का घोषणा पत्र, फ्रांसीसी क्रान्ति का विश्वबन्धुत्व तक का सफर तय करते हुए 1948 में अन्तर्राष्ट्रीय दस्तावेज के रूप

में सामने आया।

भारत में मानवाधिकार मानव-धर्म का ही अंग है। इसीलिए इसका भाव अत्यन्त विस्तृत है। विश्व के किसी भी अधिकार व्यवस्था की तुलना में उसे पूरे गर्व और आत्मसंतुष्टि के साथ उद्घाटित किया जा सकता है। ऋतु, सत्य, धर्म, यज्ञ, व्रत जैसी नैतिक कल्पनायें भारत में मानवाधिकार की मौलिक देन है। यहाँ मानवाधिकार सर्वसम्भव और सर्वभूतहित का रूप है, जो अनुपम और अनुपमेय है। हायरिस जैसे पश्चिमी विचारक ने स्वीकार किया है कि मानववाद और नैतिक अधिकार की दृष्टि से पूरी दुनिया भारत से बहुत पीछे है। अहिंसा और प्रेम भारतीय जाति की उच्चतर विधि है। इसी में मानवाधिकार की सम्पूर्ण परिकल्पना पलती है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है 'तुम्हारा अधिकार केवल कर्म में है, फलों में कदापि नहीं। कर्मफल के हेतु से कार्य न करो। अकर्म में भी आसक्त नहीं होओ।' उक्त सन्दर्भ मानवाधिकार के आदर्श स्वरूप को उद्घाटित कर देता है।

भारत सदियों से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आधार पर अपनी संस्कृति का विकास करता रहा है। इसकी सभ्यता व संस्कृति अनादि काल से समृद्ध रही है। मानव अस्तित्व के जन्म के साथ यहाँ सभ्यता व संस्कृति का विकास हुआ। 'आत्मा इव सर्वखलु' यहाँ के कण-कण में व्याप्त है। 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' अर्थात् आत्म परमात्मा का अंश है, का उद्घोष आत्म गौरव को इंगित करता है। मानव को मानव के रूप में जीने की शिक्षा देता है। 'जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि। बंदरु सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि।' (रा.च.मा.1/7) अर्थात् भारत में न केवल मानव मात्र में बल्कि चेतन, अचेतन, पदार्थ मात्र में भी बन्धुत्व के दर्शन होते हैं। जड़, चेतन सभी आत्मरूप हैं। आत्मा का तादात्म्य ईश्वर से है।

संस्कृति वह इकाई है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, विधि, रीतिरिवाज एवं समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य के द्वारा अर्जित अन्य सभी योग्यताएँ शामिल हैं। भारतीय संस्कृति सनातन संस्कृति है। सनातन (सदा+त्युल, तुत, निःसदस्य नः) अर्थात् नित्य, निरन्तर, शाश्वत एवं स्थायी। वैदिक काल से लेकर अद्यावधि तक यह निरन्तर प्रवाहित धारा की भाँति, कभी न रुकने वाली परम्परा रही है। जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाश से निरन्तर विश्व को प्रकाशित करता रहता है, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति निरन्तर एवं शाश्वत प्रकाश पुंज के रूप में विश्व मानव समाज के अज्ञानरूपी अंधकार में ज्ञान रूपी प्रकाश फैलाने का कार्य करती रहती है। विश्व की कोई भी सभ्यता व संस्कृति सम्पूर्ण विश्व को आत्मसात् कर ले, ऐसा कहीं नहीं है। यदि ऐसा कहीं है तो केवल भारतीय सनातन संस्कृति में है। यह सनातन संस्कृति ही है जो मानवीय मूल्यों को परिभाषित करती हुई उसे सर्वोच्चता प्रदान करती है। भारतीय संस्कृति देश, जाति, धर्म, सम्प्रदाय आदि सभी सीमाओं से परे है। यह सनातन संस्कृति ही है जो भारत ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व के मानव जाति में एकता, प्रेम एवं साहचर्य का भाव भरती रही है। सनातन संस्कृति की विराटता का प्रत्यक्षीकरण इस उद्घोष के साथ ही प्रमाणित होता है कि

‘सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।  
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःख भाग्भवेत्।।

सनातन संस्कृति के संवाहक भारतीय ऋषि व महर्षियों ने मानव-मानव में कभी भी भेद नहीं माना तथा सम्पूर्ण मानव को एक कुल अथवा परिवार का अंग मानकर सभी में एक दूसरे के प्रति दया, प्रेम, सहयोग, सहिष्णुता आदि भावनाओं को बलवती बनाने के लिए उदार चरित्र के निर्माण का उद्घोष किया। “आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्” अर्थात् जो स्वयं प्रिय न लगे वैसा आचरण दूसरे के साथ न करें। दूसरों का कल्याण अपना धर्म मानता है – “ परहित सरिस धरम नहीं भाई। पर पीड़ा सम नहीं अधमाई।” (रामचरितमानस) भारतीय संस्कृति में अहिंसा को सर्वोपरि धर्म माना गया है। इसके मूल में जीवन की व्यापकता का सिद्धान्त है। भारतीय संस्कृति में मूलतः कई कोमल विशिष्टताएँ जैसे – अहिंसा, सहिष्णुता और परोपकारिता है। “सर्वभूतेष्वनुक्रोशं कुर्वतस्तस्य भारत। आनृशंस्य प्रवृत्तस्य सर्वावस्थं पदं भवत्।।” (म.शा. प.66/19) जो समस्त प्राणियों पर दया करता है और क्रूरतारहित कर्मों में ही प्रवृत्त होता है, उसे सभी आश्रमों के सेवन का फल मिलता है। महावीर और बुद्ध भारत की इसी सनातन संस्कृति के उद्घोष थे। ब्राम्हण ग्रन्थों में वर्णित है कि “मां हिंस्यात् सर्वभूतानि” अर्थात् किसी भी जीव को मत मारो का आदेश था। नैतिकता के द्वारा ही सभ्यता और संस्कृति एक दूसरे के उपकारक होते हैं। नैतिकता विहीन सभ्यता संस्कृति का विनाशक है- ‘धर्मो रक्षति रक्षितः।’ नैतिक दायित्व ही कर्तव्य है। मनुष्य को क्षुद्र स्वार्थों को छोड़कर समष्टि दृष्टि से अपने कर्तव्यों को पालन करना चाहिए। इस संदर्भ में भगवद्गीता का श्लोक उद्धृत है-‘कर्मण्ये वाधिकारस्ते या फलेषु कदाचन। मा कर्मफल हेतुभूमा ते सद्गोडस्त्वकर्मणि। (गीता 2/47)’ इसी प्रकार महाभारत में युधिष्ठिर द्रौपदी से कहते हैं-‘नाहं धर्मफलाकङ्क्षी राजपुत्रि चराम्युत..... दोग्धुमिच्छति। (वनपर्व 31/2/6)’ अर्थात् हे राजपुत्री! धर्मफल की आकांक्षा से मैं आचरण नहीं करता, दान इसलिए करता हूँ कि यह यज्ञ कर्तव्य है। कर्तव्य के सम्बन्ध में जितने मतवादी विचार पश्चिमी आचार शास्त्र में हुए हैं, उतने भारत में नहीं हुए हैं। भारतीय नीति शास्त्र की दृष्टि से मानव कर्तव्यों के चार लक्ष्य (पुरुषार्थ) हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। जीवन के प्रथम तीन लक्ष्य परस्परआवलम्बी माने गये हैं तथा धर्म अथवा कर्तव्य का पालन अन्य पुरुषार्थों की उपलब्धि हेतु विशेष रूप से सहायक माना गया है।

भारत का प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद है। भारतीय ज्ञान-विज्ञान, कला, साहित्य, धर्म और संस्कृति आदि सभी का उद्गम और आधार इसी में पाया जाता है। ऋग्वेद संहिता का निरूपण ‘देव’ पद के अन्तर्गत हुआ है। सामान्यतः ‘देव’ की कल्पना में ही नैतिक तत्त्वों का मूल है। ‘देव’ शब्द ‘दिव्’ धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है ‘प्रकाशित करना अथवा होना’। इस प्रकार ‘देव’ पद के शाब्दिक अर्थ में ही ज्ञापकता, दिव्यता, उच्चता, परोपकारिता आदि उच्च नैतिक गुण निहित हैं। ऋग्वेद नैतिक मूल्यों का अधिष्ठान है, जिनको प्राप्त करने के लिए मानव उनकी ओर उन्मुख होता है। यह मनुष्य को उत्पीड़न, शोषण से मुक्त कराता है। मानव व्यवहार को वह दो भागों में विभक्त करता है, ‘ऋजु’ (सत्याचरण) तथा ‘वृजिन’ (असत्याचरण)। जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को दूर करता हुआ प्रकाश फैलाता जाता है, उसी प्रकार ‘ऋजु’ गुण युक्त मानव शोषण, उत्पीड़न, अत्याचार को समाप्त कर आनन्द और खुशहाली का प्रकाश फैलाता जाता है। यह मनुष्यों में सत्यभाषी, सौहार्द, परोपकारिता तथा ईमानदारी के गुणों का बीजारोपण करता है। मानव-मानव के साथ मित्रवत व्यवहार करने की बात करता है। वैदिक राज्य विश्वजनीत व्यवस्था की स्थापना का हेतु है। वैदिक समाज में ऊँच-नीच की भावना का उदय नहीं हुआ था। दास, दस्यु, पणि आदि वर्ण अथवा जाति नहीं अपितु असामाजिक तत्व थे,

जिसकी भर्त्सना की गई है। वर्ण का आधार श्रम-विभाजन था न कि जन्म। सभी वर्ण सामाजिक विराट् पुरुष के अभिन्न अंग थे। समाज में प्रजातीय कटुता नगण्य थी। जात-पात का आधार जन्म न होकर कर्म था। मानव मात्र के प्रति कल्याण कामना, सद्भावना तथा सौहार्द के प्रतिपादक आदर्शमय उपदेश देने वाले वेद विश्वसाहित्य में अनुपम ग्रन्थ है।

वैदिक युगीन आर्थिक और राजनैतिक जीवन भी अधिकार युक्त था। समाज में आर्थिक शोषण वर्जित था, बलात् धन संग्रह करने वालों की निन्दा की गई है। उस समय के आर्थिक और राजनैतिक जीवन में भी नैतिक विचारों व आचरणों का उल्लेख मिलता है। कृषि को सर्वोत्तम व्यवसाय माना गया था। राज्य की कल्पना में सामूहिक विचार, सम्मति और विवेक के महत्व को स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद के राजस्तुति नामक सूत्र में कहा गया है कि ‘संगच्छध्वं संवदध्वं स वो मनासि जानताम्.....’ (श्र. 10/191/2) अर्थात् ‘तुमको हमने राष्ट्रपति चुना। तुम इसके अधीश्वर बनो। अचल और स्थिर होकर रहो। विशः (जनता) तुम्हारी आकांक्षा करे। तुम राजरूप से (अपने अनैतिक आचरणों के कारण) भ्रष्ट न हो।’ स्पष्ट है कि नेतृत्व का भ्रष्ट होना, जनता को भ्रष्ट होने में सहायक पाप माना गया है। समिति और सभा सार्वजनिक संस्थाएँ थी, जो जनता की सत्ता और विचार का प्रतिनिधित्व करती थी। राजा का आदर्श देवत्व में था। राजा का प्रभुत्व दैवी गुणों से उद्भूत था। इन गुणों के परित्याग पर उसका कोई अधिकार और आदर नहीं था। राज्याभिषेक द्वारा राजा के कर्तव्य और कार्य धर्म के अनुसार निश्चित होते थे। भारत में मान्यता है कि राजा का जीवन नैतिक होना चाहिए। राजा के कर्तव्य धर्म से प्रभावित और नियन्त्रित होते थे। वैदिक नैतिकता के दो पक्ष स्पष्ट हैं, एक में सत्य, वीरता, दानशीलता व श्रद्धा गुणों का समावेश है जो मानव के आदर्श स्वभाव का आन्तरिक अलंकरण है। दूसरा पक्ष कर्तव्यों का है जिनका मूल मनुष्य की सामाजिक स्थिति में है। इस प्रकार वैदिक चिन्तन में एक साथ आध्यात्मिक, अधिदैविक और अधिभौतिक पक्षों को देखने को मिलता है, जिनका स्वरूप तथा कथित आज के मानवाधिकार के अवधारणा से कहीं आगे है।

भारत की अनेकता और विविधता मौलिक तथा सनातन है। यहाँ मानव-प्रेम, विश्व बन्धुत्व और विश्व की एकता के मंत्र कण-कण में व्याप्त हैं। भारत विविध नाम, रूप, राग, द्वेष, स्वार्थ आदि के होते हुए भी तत्त्वतः एक है। वस्तुतः नैतिक आचरण आत्मविस्तार और आत्म स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति है। वेदों की भौति उपनिषदों में भी वर्णों का विभाजन व्यावहारिक था, पारमार्थिक नहीं। भारत में मानवाधिकार की संकल्पना ‘धर्म’ शब्द से जुड़ा है। ‘धर्म’ की अवधारणा व्यापक है।

यह मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करती है। मुख्यतः धर्म किसी सम्प्रदाय या मत का द्योतक नहीं है, प्रत्युत यह जीवन का एक ढंग या आचरण संहिता है, जो समाज के किसी अंग एवं व्यक्ति के रूप में मनुष्य के कर्मों एवं कृत्यों को व्यवस्थापित करता है तथा उसमें क्रमशः विकास लाता हुआ उसे मानवीय अस्तित्व के लक्ष्य तक पहुंचने के योग्य बनाता है। महाभारत में वर्णित है कि ‘सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः (11शा.प. 162/2) अर्थात् मन, वाणी, कर्म से अहिंसा धर्म का पालन करना चाहिए। सदइच्छा ही शाश्वत धर्म है। गौतम, मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, विष्णु, हारित, उशना, अङ्गिरा, यम, आपस्तम्ब, कात्यायन, सर्वा, बृहस्पति, पराशर, शंख, व्यास, दक्ष, वसिष्ठ आदि ने धर्म को सर्वश्रेष्ठस्थान दिया है। इन्होंने जिस धर्म का उल्लेख किया है, वह मानव धर्म के रूप में विहित है। भारतीय समाज में धार्मिक सहिष्णुता भी पायी जाती है। धार्मिक अधिकार प्रजा को उस समय भी प्राप्त था। किसी भी धर्म में शान्तिपूर्ण एवं निर्विरोध पूर्ण ढंग से घुलना-मिलना होता रहा है। अनेक अभिलेखों से स्पष्ट होता है कि

भारतीय राजाओं ने हूण कुमारियों से विवाह किए। स्पष्ट है कि कालान्तर में भारत में विदेशियों की खपत होती चली गयी। इसके विपरीत विश्व इतिहास के पन्ने स्वधर्म संघर्ष से भरे पड़े हैं। भारतीय संस्कृति में इस प्रकार के घटनाओं का अभाव है। भारतीय संस्कृति नैतिक आचरण व सामाजिक व्यवहार में विश्वास रखता है। भारत में किसी अन्य धर्म की धार्मिक अनुभूति को त्याज्य नहीं समझा जाता है। 'यं शैवा समुपासते शिवइति ब्रह्मोतिवेदान्तिनो, बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपत्तः कर्तेति नैयायिकाः, अर्हन्तित्यथ जैन शासनारताः कर्मेति मीकांसकाः, सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यानाथो हरिः।' अर्थात् जो हरि त्रैलोक्यानाथ है, जिनको शैवलोक में शिव के रूप में पूजते हैं, वेदान्ती लोग ब्रह्मा के रूप में, बौद्ध लोग बुद्ध के रूप में, प्रमाणपट्ट नैयायिक लोग कर्ता के रूप में, जैन धर्म में लीन (जैन धर्म को मानने वाले) लोग अर्हत के रूप में और मीमांसक लोग कर्म (यज्ञ) के रूप में पूजते हैं। स्पष्ट है कि सहिष्णुता भारतीय धर्म का सार तत्व है। भारतीय संस्कृति में देवपूजन में भी मानवाधिकार की झलक मिलती है। भारतीय संस्कृति व परम्परा में भक्ति मार्ग की विषद व्याख्या मिलती है। भक्ति मार्ग का अनुसरण स्वयं में मानवाधिकार का रक्षण है। बुराई, कुरीति, अत्याचार, भ्रष्टाचार को दूर करने का सरलतम उपाय भक्ति मार्ग है। यह नैतिक आदर्श है।

जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी का उद्घोष था 'जीवणा रक्खवणं धम्मो जीवों की रक्षा करना धर्म है। बुद्ध ने धम्मपद में कहा है— 'न हि वैरेण वैराणि सम्मन्तीध कदाचर अवैरेण च सम्मन्ति एस धम्मो सन्धनो' बैर से बैर शान्त नहीं होता, वह प्रेम से शान्त होता है यही सनातन धर्म है। वैष्णव में पराई पीड़ा से ही द्रवित होना श्रेय मानते हैं—'वैष्णव जन तो तेने कहिये जो पीर परायी जाणे रे।' भारतीय संस्कृति में यज्ञ का विधान हिंसात्मक है। फलतः हिंसापरक वैदिक यज्ञ तथा बुद्ध की अहिंसा या भारतीय संस्कृति के दो छोर हैं, किन्तु इनके मध्य एक और कड़ी है जो भगवान श्रीकृष्ण के सिद्धान्त की है। यह कहते हैं—'सबसे उत्तम यज्ञ वह है, जिसमें किसी भी जीव की हत्या नहीं होती प्रत्युत जिस यज्ञ के द्वारा मनुष्य अपना जीवन परोपकार में लगा देता है।' इन्होंने यज्ञ का आमूल विरोध नहीं किया, किन्तु यज्ञ के अर्थ में उन्होंने बहुत बड़ी क्रान्ति कर दी।

भारतीय संस्कृति व परम्परा में सबसे बड़ा अवगुण 'अस्पृश्यता' माना जाता है। 'अस्पृश्यता' की भावना मानव जाति के लिए अभिशाप है। यह मानवाधिकार का उल्लंघन है। इसकी कल्पना मानव अस्तित्व को नकारता है। अस्पृश्यता की धारणा न केवल भारत में वरन् अन्य महाद्वीपों विशेषतः अमेरिका, दक्षिण अफ्रीका में अपने उग्र रूप में रहा है। अमेरिका में निग्रो जाति, दक्षिण अफ्रीका में अश्वेत, ब्रिटेन में नील वर्ण इत्यादि भारतीय अस्पृश्य जाति से भी कई गुनी असह्य, अयोग्यताओं एवं नियंत्रणों से घिरी हुई है। सम्पूर्ण विश्व इतिहास जाति, धर्म, वर्ण, रंग आदि के आधार पर भेदभाव की भावना से भरा पड़ा है। यह भावना आज के विकसित सभ्यता में पाई जाती है जबकि अस्पृश्यता सामाजिक दुष्कर्म और वाद है। भारत में बौद्ध परम्परा ने जाति प्रथा को चुनौती देकर देश की सांस्कृतिक परम्परा को सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया। बौद्ध दर्शन ने मनुष्य की मर्यादा को यह कहकर ऊपर उठाया कि कोई मनुष्य केवल ब्राम्हण कुल में जन्म लेने से पूज्य नहीं हो पाता, न कोई शूद्र होने से पतित होता है। उच्च व निम्न होना जन्म पर नहीं वरन् कर्म पर अवलम्बित होता है। ब्राम्हण पतित हो सकता है, शूद्र अपने को पूजनीय बना सकता है। बौद्ध धर्म ने चारों वर्णों व स्त्रियों को धर्म का अधिकार समान रूप से दिया। जबकि पश्चिमी देशों ने दासों के व्यापार में अमानुषिकता का जघन्य उदाहरण उपस्थित किया है। इन्होंने दासों के व्यापार द्वारा मानवता का हनन युगों तक किया। आधुनिक युग में दासता का यह उदाहरण सभ्य मानवता पर कलंक है। भारत में शूद्र कभी भी उस दशा तक निःसहाय नहीं थे जितना कि पश्चिम

में दास। शूद्रों को भी समस्त अधिकार प्राप्त था। "शूद्र अपने शरीर, अपने श्रम, अर्थोत्पादक आयुधों तथा भूम्यादि सम्पत्ति के स्वामी थे। शूद्रों की आजीविका के कई ऐसे स्वतंत्र व्यवसाय थे जो त्रैवर्णिकों के तनिक भी अधीन नहीं थे। शूद्र प्रधान रूप से पशुपालन, धातु-कर्म, बुनाई, बढ़ईगिरी, लुहार, कुम्हार और चर्मकार के काम तथा रसोई आदि हीन तथा उच्च व्यवसायों को अपनाते थे।" स्पष्ट है कि भारत में शूद्र प्रथा अरस्तु के दास प्रथा से बिल्कुल भिन्न था। भारत में वर्ण विभाजन के होते हुए भी आधुनिक युग के पहले, वर्णों में परस्पर कटुता और विद्वेष नहीं था, उनमें परस्पर अन्योन्याश्रय सद्भावना और सहकारिता का व्यवहार था। चूंकि वर्णों का विभाजन सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से क्रियात्मक और कार्यगत था। इसमें सभी वर्ण अपने-अपने स्थान में महत्वपूर्ण थे। समय-समय पर जाति व्यवस्था प्रबल होकर वर्ण व्यवस्था को दबाती आयी है। समाज में जब परम्परागत सामाजिक नीति क्षीण होती है, तो जाति व्यवस्था प्रबल हो जाती है। वर्तमान सन्दर्भ में जाति व्यवस्था का जो कुपरिणाम नजर आ रहा है, वह सामाजिक नीति की दुर्बलता का परिणाम है। जैसे-जैसे समाज में विकृतियाँ पनपने लगी, निहित स्वार्थों का उदय हुआ। परिणामतः वर्ण भेद, सामाजिक शोषण और सामाजिक अन्याय की प्रवृत्तियाँ समाज में प्रबल होती गयी।

भारतीय संस्कृति में सभी युगों में विचार स्वातन्त्र्य एवं उपासना स्वातन्त्र्य की भावनाओं की पूजा की गयी। प्राचीन भारत में गणतन्त्र के होते हुए भी लोकतन्त्र की अवधारणा प्रबल थी। राजा का प्रथम व प्रधान कर्तव्य है प्रजा रक्षण। राज्य का कार्यक्षेत्र केवल शान्ति व सुरक्षा तक ही सीमित नहीं था। लोककल्याणकारी राज्य के भी कार्य किए जाते थे। कल्याणकारी कार्य अत्याधुनिक परम्पराएँ हैं, किन्तु प्राचीन भारत में वैदिक युग से ही यह परम्परा चली आ रही है।

भारतीय संस्कृति में दण्ड को भी महान देवता माना गया है। दण्ड अग्नि के समान तेजस्वी है। चूंकि दण्ड ही अपराधी को कुमार्ग से सुमार्ग पर लाता है, मानवता विहीन, अधार्मिक, पापी को सही राह दिखाता है। इस प्रकार दण्ड ही सब कुछ है सर्वव्यापी होने के कारण स्वयं नारायण का रूप है। मानवाधिकार के संरक्षण व संवर्द्धन हेतु दण्ड, सजा की भी व्यवस्था आवश्यक है।

प्राचीन शिक्षण पद्धति का अवलोकन करने से इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि अध्ययन हेतु पहले से ही कोई शुल्क नहीं निर्धारित था। अर्थात् भारत में वैदिक युग से ही निःशुल्क शिक्षा के अधिकार का वर्णन मिलता है। आज के परिप्रेक्ष्य में मानवाधिकार के अन्तर्गत शैक्षणिक व सांस्कृतिक अधिकार भी शामिल है, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण, जाति, धर्म, लिंग, भाषा, संस्कृति के लोगों को अपना-अपना शैक्षणिक व सांस्कृतिक विकास करने का अधिकार है। स्त्रियों को भी शिक्षा का अधिकार था। मध्य एवं वर्तमान काल की अपेक्षा प्राचीनकाल में स्त्रियों की शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था कहीं उच्चतर थी। स्त्रियों ने तो वैदिक ऋचाओं तक की रचना की है। स्त्री शिक्षिकाओं की भी परम्परा रही है। पाणिनी ने 'आचार्या' एवं 'उपाध्याया' जैसे शब्दों की व्युत्पत्ति की है। वैदिक समाज में भी स्त्रियों को भी समान अधिकार प्राप्त था। भारतीय परम्परा में जो गौरव स्त्री जाति को प्राप्त है, वैसा अन्य किसी परम्परा व संस्कृति में नहीं है।

साथ ही साथ 'अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध विधि' के समान तत्कालीन परिस्थितियों में भी युद्ध के नियम पाये जाते हैं। सम-सामायिक इतिहास में संभवतः इतने ऊँचे स्तर की युद्ध नीति दूसरे देशों में नहीं पायी जाती है। मुख्य बात यह है कि तत्कालीन परिस्थितियों में यह नियम केवल सैद्धान्तिक नहीं वरन् व्यवहार में भी देखने को मिलता है।

मानव धर्म को धर्मशास्त्रों में सदाचार कहा गया है। सदाचार का

आचरण करके मानवत्व की स्थापना की जा सकती है। यदि प्रत्येक मनुष्य सदाचारी बन जाये तो मानवाधिकार जैसी समस्या ही नहीं उठ सकती है। जैसा कि स्कन्ध पुराण में वर्णित है कि आचार परम धर्म, परम तपस्या तथा आयुष्य की वृद्धि करने वाला है और आचार से समस्त पापों का नाश होता है। धर्मशास्त्रों के अनुसार सदैव आचरणीय कर्तव्य कर्म—सत्य, क्षमा, सरलता, ध्यान, अक्रूरता, अहिंसा, इन्द्रियमन, प्रसन्नता, मधुरता एवं कोमलता—ये दस यम तथा शौच, स्नान, तप, दान, मौन, यज्ञ, अध्ययन, व्रत, उपवास तथा उपस्थ (इन्द्रियों का संयम) ये दस नियम हैं। 'सर्वजन हिताय व सर्वजन सुखाय' के भारतीय धर्म दर्शन की भित्ति पर प्राणी मात्र को निरन्तर सदाचरण धारण करना चाहिए क्योंकि इसी में मानव मात्र का कल्याण निहित है।

भारतीय संस्कृति अनेक संस्कृतियों का संगम है। भारतीय संस्कृति की पाचनशक्ति प्रचण्ड मानी गयी है। भारतीय संस्कृति में देश में वास कर रहे अनेक जातियों, उपजातियों की संस्कृति को मिलाकर एक समन्वित संस्कृति का सृजन हुआ है। इसका स्वरूप प्रारम्भ से ही लचीला है, जिसके कारण इसके अन्तर्गत नयी संस्कृतियों का समागम आसानी से हो जाता है। भारतीय संस्कृति ने अनेक संस्कृतियों को आत्मसात कर अपनी ताकत बढ़ायी है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार गिस्टर डाडवेल ने लिखा है कि "भारतीय संस्कृति महासमुद्र के समान है, जिसमें अनेक नदियाँ (संस्कृति) आकर विलीन होती रही हैं।" जवाहर लाल नेहरू के शब्द में, "ईरानी और यूनानी लोग, पार्थियन और वैक्ट्रियन लोग, सीथियन और हूण लोग, मुसलमानों से पहले आने वाले तुर्क और ईसा की आरम्भिक सदियों में आने वाले ईसाई, यहूदी और पारसी ये सब एक के बाद एक भारत में आये और उनके आने से समाज में एक हल्के कम्पन का भी अनुभव हुआ, किन्तु अन्त में आकर वे सबके सब भारतीय संस्कृति के महासमुद्र में विलीन हो गये। उनका कहीं कोई अलग अस्तित्व ही नहीं बचा।" आज से तीन हजार वर्ष पूर्व भारतीय संस्कृति का जो रूप था, आज भी वैसा ही है। मिश्र, बेबीलोन और यूनान में भी प्राचीन सभ्यताएँ उठी थीं, किन्तु काल ने उन्हें ध्वस्त कर दिया। केवल भारत ही एक ऐसा देश है, जिसका अतीत कभी मरा नहीं। वह वर्तमान के रथ पर चढ़कर भविष्य की ओर चलता रहा है। सी.ई.एम. जोड़ लिखते हैं कि "मानव जाति को भारतवासियों ने जो सबसे बड़ी चीज वरदान के रूप में दी है, वह यह है कि भारतवासी हमेशा ही अनेक जातियों के लोगों और अनेक प्रकार के विचारों के मध्य समन्वय करने को तैयार रहे हैं और सभी प्रकार की विविधताओं के मध्य एकता कायम करने की उनकी लियाकत और ताकत लाजवाब रही है। भारतीय संस्कृति की यह अनूठी व अनुपम विशेषता विश्वमानवता हेतु सबसे बड़ा वरदान है।" मानवाधिकार का सम्बन्ध मानव जीवन के मूल्यों से है। मूल्यों का सम्बन्ध दर्शन व धर्म से है, दर्शन सिद्धान्त है तो धर्म व्यवहार। भारत में धर्म और दर्शन अभिन्न रूप से साथ-साथ चले आ रहे हैं। ये दोनों ही आदर्श जीवन के आधार स्तम्भ हैं। सिद्धान्त को व्यवहार में लाना हमारी परम्परा का मूलमंत्र है, जो मानव के लिए कल्याणकारी है।

पश्चिम में मानवाधिकार राज्य के दमनात्मक स्वरूप की प्रतिक्रिया में प्रस्तुत होता है। आगे चलकर यह समृद्ध एवं शक्ति सम्पन्न देशों का ऐसा हथियार बन जाता है जिसमें मत्स्य-न्याय की झलक हम देख सकते हैं। महाभारत में स्पष्ट किया गया है कि मत्स्य-न्याय से व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना ही राज्य का प्रमुख दायित्व है। वही राज्य पूर्ण एवं समग्र है जो व्यक्ति को देवत्व के स्तर तक पहुंचाने में लौकिक दृष्टि से सहयोग करे। पश्चिम में राज्य एक अनिवार्य बुराई है, जबकि भारत में राज्य सकारात्मक एवं कल्याणकारी अवयव है। पश्चिमी मानवाधिकार सभ्यता अथवा संस्कृति के विकास का परिणाम न होकर शक्ति के लिए संघर्ष के

सुविचारित दर्शन के रूप में प्रकट होता है जबकि भारतीय संस्कृति में सत्याचरण, क्षमा, दान, सरलता, ध्यान, अक्रूरता, अहिंसा, इन्द्रिय दमन, प्रसन्नता, मधुरता, कोमलता और त्याग मानवाधिकार के गुण हैं। फलतः यह सर्वजन हिताय तथा सर्वजन सुखाय के माध्यम से आत्म कल्याण एवं विश्व कल्याण का दर्शनिक और लौकिक रूप बन जाता है। भारतीय संस्कृति में व्यष्टि एवं समष्टि का अद्भुत तारतम्य है जो वास्तव में मानवाधिकार का मूल स्वरूप है। उन्नीसवीं सदी में अपनी अपूर्व भारत भक्ति से सारे यूरोप को चौंका देने वाले मैक्समूलर ने लिखा है कि "यदि मैं अपने आप से यह पूछूँ कि केवल यूरोपीय लोगों के आन्तरिक जीवन को अधिक समृद्ध, अधिक पूर्ण और अधिक विश्वजनित, संक्षेप में अधिक मानवीय बनाने का नुस्खा हमें किस जाति के साहित्य में मिलेगा, तो बिना किसी हिचकिचाहट के मेरी उँगली हिन्दुस्तान की ओर उठ जायेगी।" बीसवीं सदी के अद्भुत चिन्तक तथा विश्वमानवता के अपूर्व उपासक रोम्यो रोलाँ लिखती हैं कि "यदि इस धरती पर कोई एक ऐसी जगह है, जहाँ सभ्यता के आरम्भिक दिनों से ही मनुष्यों के सारे अपने आश्रय और पनाह पाते रहे हैं, तो वह जगह हिन्दुस्तान है।" नैतिक आचरण तथा कर्तव्य की भावना पर मानवाधिकार का भवन खड़ा है, जो भारतीय परम्परा का मूल स्वर है।

#### संदर्भ सूची

1. अथर्ववेद संहिता, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1985 ई.।
2. ऋग्वेद संहिता, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1910 ई.।
3. कौटल्य अर्थशास्त्र, पण्डित पुस्तकालय, काशी, 2016 वि.।
4. बुद्धचरितम्, सूर्यनारायण चौधरी, पूर्णिया, 1948 ई.।
5. मनुस्मृति, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2009 ई.।
6. महाभारत, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2015 वि.।
7. बाल्मिकी रामायण, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2014 वि.।
8. आयंगर, के.वी.आर.: एस्पेक्ट ऑफ हिन्दू व्यूब आफ लाइफ, एकाडिंग टू धर्मशास्त्र बड़ौदा, 1952।
9. एलन, आर. व्हाइट: राइट्स, क्लारेन्डान प्रेस, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, न्यूयार्क, 1985।
10. भंडारकर, डी.आर.: सम एस्पेक्ट आफ एन्सियेन्ट हिन्दू पॉलिटी, बनारस, 1929।
11. चौधरी, आर. के.: एन्सियेन्ट इण्डियन लॉ एण्ड जस्टिस, मोतीलाल बनारसी दास, 1953।
12. दत्त, एन.के.: ओरिजिन एण्ड ग्रोथ ऑफ कास्ट इन एन्सियेन्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1971।
13. हेन्किन, लड्स: द राइट्स ऑफ मैन टुडे, द सेन्टर फार द स्टडी आफ ह्यूमन राइट्स, कोलम्बिया यूनिवर्सिटी, 1988।
14. मुखर्जी, एस.: सम एस्पेक्ट आफ सोशल लाइफ एन एन्सियेन्ट इण्डिया, दिल्ली 1976।
15. थेडार मेरान (सम्पा.) ह्यूमन राइट्स इन इन्टरनेशनल लॉ, क्लारेन्डान प्रेस, आक्सफोर्ड, 1986।
16. वसॉक, करेल: द इन्टरनेशनल डाइमेन्सन्स ऑफ ह्यूमन राइट्स, वाल्यूम-1, ग्रीनवुड प्रेस, अमेरिका, 1982।